अनन्तर/जनसत्ता/२७ अगस्त, २००६

कला में रूप-अरूप

ओम थानवी

''**स**च को बयान नहीं किया जा सकता; जिसे बयान किया जा सकता है, वह सत्य नहीं है।'' मनीष पुष्कले की कलाकृतियों को देखते हुए मुझे लाओ त्से की यह सूक्ति याद आई। लगा कि एक अनूठा अमूर्तन कलाकार को उसके सत्य की देहरी पर पहुंचा सकता है। एक प्रेक्षक की तैयारी उसे उस सत्य के करीब ले आ सकती है। लेकिन शब्दों में उसका वर्णन एक नामुमकिन-सी चीज है।

पुष्कले के नए अठारह चित्रों की प्रदर्शनी शनिवार की शाम दिल्ली की कलादीर्घा बोधि-आर्ट में शुरू हुई है। मुझे यह काम दो रोज पहले अलग से देखने का मौका मिल गया। प्रदर्शनियों के उद्‌घाटन के वक्त जलसे का लुत्फ होता है, मगर भीड़ में कला-कृति के आमने-सामने होने का सुख जाता रहता है। कला की रचना अकेले में होती है; देखने वाले के सामने उसके रंग और रेखाएं भी शायद अकेले में खुलती हैं। कला-रूप और उसके सत्य तब चौखटों से बाहर निकलते हैं। अपने रहस्य कहते हैं। सर्जक और दर्शक के बीच औचक एक डोर बंधती है और कला अपनी पूर्णता पाती है।

मनीष ने नए चित्रों के इस संकलन को ''जप'' नाम दिया है। जैन दर्शन में उनकी अटूट आस्था है। उनकी कृतियों में इसकी गहरी छाया है। इसे वे छुपाते नहीं हैं। इससे पहले उन्होंने अपनी एक चित्र-शृंखला का नाम 'अपरिग्रह' और दूसरी का 'सामायिक' रखा था। उनके कई चित्रों के शीर्षक भी आध्यात्मिक भंगिमा लिए हुए हैं। उनकी खुशकिस्मती है कि हिंदू या इस्लाम धर्म की तरह जैन या बौद्ध धर्म ऐसे विवाद के घेरे में नहीं हैं जहां उनका जिक्र मात्र झिझक की चीज बन जाए। लेकिन इन कृतियों में जैन दर्शन या उसके सिद्धांतों के हवाले से भगवान महावीर या किसी धार्मिक रूपक के चित्रांकन की कल्पना न करें। आस्था मनीष के मानस में है। वह उनकी संवेदना का अंग है। धर्म उनके लिए जीवन का दर्शन है। उनकी 'कूची' से उस संवेदन का अमूर्त रूप प्रकट होता है।

मैंने कूची शब्द जान-बूझ कर अलग लिखा है। दरअसल चित्र बनाते वक्त मनीष कूची का इस्तेमाल करते ही नहीं हैं। वे कैनवस पर तेल के रंग हाथ से लगाते हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''हाथों में आत्मीयता है। इससे काम में अपनापन आ जाता है। फिर फक्कड़ रंगों को आप कूची से क्या रंगेंगे? साधु थाली में नहीं, हथेली में खाता है। यही शायद अपरिग्रह है। नहीं?''

दर्शन के स्तर पर मनीष के पुराने काम से इस नए काम का सीधा तारतम्य है। वही सादगी, जगह का विस्तार और रंगों की पल-पल बदलती रंगत। लेकिन पुराने काम में रूपाकारों के सतत क्रम का जो शिल्प था- जिसने कलाकार को पहचान भी दी- वह नए काम में कहीं नहीं है। लगता है मनीष अपने आप से मीलों आगे निकल आए हैं। कला में विकास या परिपक्वता का ऐसा दूसरा उदाहरण उनके दौर में आसानी से शायद ही मिले।

मैंने कलादीर्घा में पहले चित्र-दर-चित्र एक फेरा लगाया। फिर एक चित्र से दूसरे तक, मगर बगैर किसी सिलसिले के। फिर कुछ चित्रों के बीच एक तार- मनीष के शब्द में डोर- देखने की कोशिश जो उनके एक काम को दूसरे काम से जोड़ता है। मैंने साफ अनुभव किया कि उनके इस काम में रंगों का तेज अलग है। उसमें निरंतरता है। रंगों में बहुरंगता है। गहरे और बीहड़ रंग भी

हममें जैसे किसी राग का संचार करते हैं। उनके इस काम में आकार हैं, आकृतियां नहीं हैं। जो अमूर्त आकृतियां दिखाई देती हैं, इतनी सरल हैं कि उन्हें अनाकृतियां कहना ज्यादा उचित होगा।

लेकिन मनीष इनके सहारे अपना शिल्प नहीं रचते। उसका आधार सिर्फ रंग रहते हैं। एक दूसरे से खेलते, जुड़ते, छूटते। आपस में टकराते। एक होकर अलग होते। मगर बगैर किसी बेचैनी या तनाव के। अंधकार में जैसे प्रकाश की दुनिया रचते हुए। यह कला का अध्यात्म है। रंगों के इस आलोक में ही उनके कला-कर्म का 'रूप' आकार लेता है। उसे 'फार्म' कहना उसकी संरचना को ओछा करके देखना होगा। बल्कि एक अर्थ में वह 'फार्मलेसनेस' है: अरूप।

''**इ**न कलाकृतियों में ध्रुपद का आलाप है'', प्रदर्शनी के पोस्टर में दर्ज यह उक्ति बिलकुल दुरुस्त है। ध्रुपद के साथ आप चाहें तो इन रूपाकारों में निर्गुण लोक तान भी सुन सकते हैं। कबीर मनीष के देवताओं में हैं। उन्होंने शून्य शिखर पर अनहद नाद की बात की है। कुमार गंधर्व ने उस भाव को आवाज दी। डागर वाणी ने स्वर दिए। मनीष ने उसी आस्था को रंगों में अपनी अंजलि दी है।

अपने रंगों के साथ वे बाकी दुनिया से अलग हो जाते हैं। मैंने इन अठारह चित्रों में किरमिजी लाल ('चमत्कार-द्वितीय' कृति में एक छोटी-सी लकीर) को छोड़कर दूसरा रंग नहीं देखा, जिसे कोई बाजार का नाम दे सकें। यहां हमें अपना शब्द-भण्डार बड़ा दयनीय महसूस होता है। लगता है शब्दकोश को शब्दों से नहीं, साक्षात रंगों से भरना होगा! मनीष के चित्रों में हर रंग की अपनी गंध है। पीला उस तरह पीला नहीं है। न लाल लाल। नीला भी पहचानशुदा नीला नहीं है। धूसर रंग एक पूरी कलाकृति (श्याम विलंबित) में अपूर्व आभा के साथ मौजूद है। हरे की परतों का प्रवाह (संन्यस्त-द्वितीय) जैसे रोशनी का प्रपात रचता है। वे हलके और गहरे, नरम और तल्ख सभी तरह के रंग अपने काम में बरतते हैं। बनने से पहले अपनी हर संभावित पहचान को जैसे खुद तोड़ते हुए।

बातचीत में उन्होंने एक दिलचस्प बात कही। बोले, ''मैं चित्र बनाता नहीं हूं, उसे खोता हूं। मेरा सारा उद्यम कुछ हासिल करने की नहीं, खोने की प्रक्रिया है। मैं किसी आकार को बनने नहीं, बिगड़ने देता हूं। मैं रूप को पकड़ता नहीं, उसे अपने से छूटने देता हूं। देखता हूं कि रूप और रंग कृति शुरू करते वक्त मेरे सामने थे, काम पूरा होते-न-होते जा चुके हैं, तिरोहित हो गए हैं। कम-से-कम मैंने ऐसा चाहा है, इसकी कोशिश की है।''

मुझे उनकी बात अच्छी और सही लगी।

रंग में रंग मिलने पर नया रंग बनता है। पर मनीष के यहां रसायन का यह गणित काम नहीं करता। इसकी वजह उनकी नजर में बिलकुल साफ है। वे कहते हैं, आमतौर पर यही होता है कि किसी रंग के इस्तेमाल की जरूरत महसूस होती है और हम उसे जरूरत के मुताबिक बरत लेते हैं। ''लेकिन मुझे अपनी जरूरत इस तरह कभी अनुभव नहीं होती। मैं एक के ऊपर एक रंग फेंटता हूं- जब तक कोई ऐसा रंग न निकल आए जो मुझे तत्क्षण लगे कि वह रंग है, जिसकी मुझे तलाश थी।''

रंग को बरतने की उनकी शैली नितांत मौलिक है। वे कैनवस पर रंग लगाते हैं और उसे वापस उठा लेते हैं। इस तरह पीछे रंग के सिर्फ अवशेष रह जाते हैं। एक बेतरतीब-सा पोत। यह रंग लगाना नहीं है, रंग हटाना है। इस प्रक्रिया में अपेक्षित प्रभाव हासिल हो जाने पर वे अपने रूपाकार की तलाश में आगे बढ़ते हैं। बारीकी में देखा तो लगा कि उनके हर चित्र में एक जाली का सा प्रतिरूप झलकता है। जैसे मोटे कपड़े की बुनावट या टाट-बोरे की सुतली के रेशे पृष्ठभूमि में झांक रहे हों। मुझसे पूछे बिना नहीं रहा गया। लगता है जैसे सूत के चिथड़े रंगों पर चिपका कर उन्हें

वापस उठा लेते हों? मनीष बोले, ''आपने बिलकुल ठीक पकड़ा।'' एक चित्र (संन्यस्त) पर अंगुली रखते हुए वे मंद-मंद मुस्कुराए: ''यह मेरा रूमाल था!'' यह शैली उन्होंने अर्जित की है। उनका हर काम अब इसी शैली में होता है। रूप का यह खुरदरापन उनकी मौलिक पहचान बन गया है।

रंगों और आकारों से मनीष चाहे जितना खेलते हों, पटल पर उनका नियंत्रण अनूठा होता है। उनकी अराजकता में भी एक अनुशासन बना रहता है। कृति का हर हिस्सा स्वच्छंद है, पर विजातीय नहीं है। रंगों के हर मंद्र स्पर्श और आकारों के दोलन में एक लयबद्ध संगति है।

उन्होंने बताया कि कला की दुनिया में कदम छापे (प्रिंट) के साथ रखा था। कला की दूसरी पढ़ाई उन्होंने कभी नहीं की। भोपाल में भूगर्भ शास्त्र पढ़ते हुए भारत भवन के परिवेश ने आकर्षित किया। एकांत, झील का किनारा और साहित्य-कला की तरंगें। छापे की एक कार्यशाला में शरीक होकर हमेशा के लिए इस दुनिया में दाखिल हो गए। ''मैं अपने काम को छापे के उस अनुभव का विस्तार ही मानता हूं।'' लेकिन इसे उनकी विनय ही मानना चाहिए। उनके काम में छापे का असर जरूर है, लेकिन वे बहुत दूर तक उसका अतिक्रमण करते हैं। तकनीक उनके यहां हावी नहीं है; वह उनके रचना संसार का पिछवाड़ा भर है। चार साल पहले अमूर्तन ने उन्हें अपनी तरफ खींचा था। अपने आकृतिमूलक दौर के साथ अब उनका तकनीक का दौर पीछे छूट गया है। हालांकि कला को अमूर्त और आकृति के खांचे में देखना वे ठीक नहीं समझते। कहते हैं, अमूर्त मूर्त का विस्तार है, विपर्यय नहीं।

उनकी कृतियों में आकृति और अमूर्त का संबंध और साफ हो जाता है। यह मानव स्वभाव है कि पहली नजर में आप चीजों को पहचानते हैं। पर मनीष के चित्रों में वे बहुत जल्दी पीछे हट जाती हैं। महज अपने संकेत छोड़ती हुईं। यह उनके हर चित्र की दास्तान हो सकती है। किसी छाया की तरह पसरती रेखाएं। तुला में ठोस चौखाने, मानो हवा में उड़ती शिलाएं हों। अतीत की रेती पर रखा कोई शिलाखण्ड। काल के विन्यास पर गुदी कीलें। नीले की अतल गहराइयां। आकाश में सूर्य। सागर में चांद। किसी तपस्वी-सी तनी वीणा। और एक पतंग अनंत में।

लेकिन क्या सचमुच ये आकृतियां हैं? 'हैं-नहीं' के झोल के बावजूद हम कृति के समग्र सच को छू लेंगे अगर दो कदम पीछे हट जाएं। देखने और अनुभूत करने का फर्क अच्छी कृतियां हमें बहुत जल्द याद दिला देती हैं। देखते-देखते रेखाएं रंगों में ढल जाती हैं और रंग रूपों में। सब आकार और अभिप्राय जैसे अमूर्तन में पिघलने लगते हैं। यही मुकाम है जहां पहुंच कर आप कृति को सिर्फ अनुभव करते हैं, अनुभव को बयान नहीं कर सकते। सर्जक और दर्शक के बीच अब यह मौन का रिश्ता है। शून्य शिखर के अनहद नाद की गूंज साझा करने का रिश्ता।

मुझे अच्छा लगा कि मनीष अपने हस्ताक्षर कैनवस के पीछे करते हैं, कलाकृति पर नहीं। एक तो यह कि हस्ताक्षर किसी कोने में दुबक कर भी बहुत चीखते हैं। आप कलाकृति के रूप-रंग की परतें खोलते हैं और वे बार-बार आपकी तरफ अपनी पलकें झपकाते हैं। दूसरे, दस्तखत में एक अहंकार भी निहित है। भगवान महावीर- जिन्होंने अहं के विलय का ज्ञान दिया- के श्रद्धालु से ज्यादा इस बात को और कौन समझ सकता है ।

लेकिन इसके साथ एक चूक वे करते हैं। उन्होंने हर कृति को कोई नाम दे दिया है। नाम प्रेक्षक को कृति के साक्षात्कार- और अनन्तर आविष्कार- से पहले अपने से बांध देता है। हर अच्छी कृति में अभिप्राय और अनुभूति की असीम संभावनाएं होती हैं। निरखने वाला अपनी समझ और तैयारी के अनुसार उनके दरीचे खोलता है। मैंने जिस कृति में रेत की युगों-युगों की परतें देखीं, उसका नाम ''कृष्ण की बांसुरी'' निकला! ऐसा नहीं कि नाम हमेशा गैर-जरूरी होते हों। लेकिन कभी-कभी चित्रों को खुला भी छोड़ देना चाहिए।

नया काम देखने के आगे-पीछे मनीष के साथ मेरी दो लंबी बैठकें हुईं। वे मूलतः बुंदेलखण्ड के रहने वाले हैं। मैंने उनमें एक बौद्धिक रुझान लक्ष्य किया। वे भावुक हैं। और संघर्ष का जज्बा भी खूब है। हालांकि संघर्ष का दौर अब टल चुका है, पर उसे वे कभी भूलते नहीं हैं। दिल्ली में राष्ट्रीय संग्रहालय से कला-संरक्षण की डिग्री ली और सड़क पर आ गए। शकरपुर में सीमेंट की दुकान से जुड़े एक छोटे-से कमरे में दिन काटे। सुबह उठते तो बीच के दरवाजे से छन कर आने वाली सीमेंट पलकों पर अपनी परत रख जाती थी। मनजीत बावा ने उनका एक चित्र खरीदकर मदद की। दुबारा मदद हुई तो शादी कर ली। उनकी पत्नी कामना भी चित्रकार हैं। कलाकार के नाते मनीष का नाम अब छुपा हुआ नहीं है। उन्हें युवा चित्रकारों को दिया जाने वाला रजा पुरस्कार मिल चुका है और देश-विदेश में कई प्रदर्शनियां भी आयोजित हुई हैं। भोपाल में माता-पिता उन पर गर्व करते हैं। कभी रेस्टोरेशन (संरक्षण) की डिग्री के नाम से भ्रमित होकर उन्होंने बेटे के लिए किसी रेस्टोरेंट की नौकरी की निराशा पाल ली थी!

मनीष शास्त्रीय संगीत खूब सुनते हैं। साहित्य से बहुत लगाव है। कहते हैं- स्वाध्याय के बगैर कलाकार की कला सूखी है। पढ़ने से भीतर रस उमड़ता है। वही बाद में मेरे रंगों में छलक आता है। अज्ञेय, रेणु, निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद और अशोक वाजपेयी आदि से वे बहुत प्रभावित हैं। साहित्य के साथ उनके बर्ताव को भी याद रखते हैं। निर्मल वर्मा के यहां दस बरस पहले एक तपती दुपहर पहुंचे थे। उन्होंने जिस आत्मीयता से पानी का गिलास दिया, वह अब तक याद है। कहते हैं, उस तरह दुबारा कभी पानी नहीं पिया। 'वैद साहब' का कला पर बात करना और चंपाजी का पास बैठकर खाना खिलाना भी भूले नहीं भूलता। कला में गायतोंडे को वे अपना गुरु मानते हैं। हालांकि उनसे 'चुप्पियों में' ही बात होती थी। हुसेन, रजा, स्वामीनाथन, अंबादास, गुलाम मुहम्मद शेख, मनजीत बावा से बहुत प्रभावित हैं। पहाड़ी लघुचित्रों ने 'रंगों की शिद्दत' सिखाई है। मुझे उनके काम में रामकुमार का सहज प्रभाव भी दिखाई दिया।

कलाकार के मानस को जानने के लिए कुछ ये सवाल-जवाब भी देखिए। पहाड़ देखकर कैसा अनुभव होता है? अपने गौण होने का। झील में क्या देखते हैं? उसका रंग। ''पेंगांग झील का नीला रंग ऐसा नीला था कि उसमें पांव रखने के बाद पछतावा हुआ, जैसे मुझसे हिंसा हो गई हो!''

अपनी-अपनी यात्राओं की बात चली। मुझे मुश्किल से कोई मिला जो कहता था कि स्विट्जरलैंड की खूबसूरती में निपट बनावट है। मैंने जान-बूझकर कश्मीर और लद्दाख की बात छेड़ी तो बोले, स्विट्जरलैंड दुबारा नहीं जाना चाहता। लद्दाख बार-बार जाना चाहता हूं। ''कैसा संसार है! जैसे तपती धूप में बैठा कोई योगी हो। पर्वत के साथ हम पर्वत हो जाते हैं, रेत के साथ रेत और पानी के साथ पानी। इतनी पवित्रता और कहीं महसूस नहीं की।''

मैंने पूछा, जैसलमेर गए हैं कभी? ''नहीं, 'बुलावे' का इंतजार है।''

मैं मनाता हूं यह बुलावा उन्हें जल्द महसूस हो। मुझ जैसा रेगिस्तान का वासी मनीष पुष्कले के चित्रों को देखते हुए उनके रंगों में अपनी रेत के रूप-अरूप देखने से सुखद कल्पना क्या कर सकता है?